आसक्ति फल में नहीं, कार्य में जरूरी

किसी चीज को प्राप्त करने के लिए आरंभिक क्षणों में आसक्ति का होना आवश्यक है, तभी प्रयत्न का प्रारंभ होता है। भगवद्गीता में 'तस्मादसक्तः सततं कार्य कर्म समाचर' कहकर आसक्ति से मुक्त होकर कर्तव्य-कर्म करने के लिए बताया गया है, जहाँ कर्तव्य-कर्म में अनासक्ति नहीं, वरन् कर्मफल में अनासक्ति की बात है। फल में इच्छा-रुचि न हो, तब भी कार्य संपन्न होता है, परंतु कार्य में ही अनिच्छा हो, तो कर्तव्य पूरा नहीं होता। गीता के अनुसार, कर्मों का आरंभ किए बिना निष्कर्मता की स्थिति नहीं आती और न ही केवल कर्मों के त्याग से सिद्धि प्राप्त होती है। कार्यारंभ के लिए इच्छा, आसक्ति, निष्ठा का होना जरूरी है। भले ही बाद में यह कम हो जाए अथवा करणीय कार्य और प्राप्य वस्तु-फल निरर्थक लगे। इच्छाएँ पूर्ण होने पर खत्म होती हैं और कई बार अधिक तीव्र भी हो जाती हैं। दूसरी ओर, अपूर्ण रहने की कसक में भी नष्ट होती हैं और कई बार अपूर्ण इच्छाएँ दीर्घजीवी भी रहती हैं। स्वयं और समाज में इच्छाओं, कामनाओं की ये सारी परिणतियाँ देखने को मिल जाती हैं।

प्रारंभिक दिनों में बहुत छोटा-सा सहयोग, प्रोत्साहन और झटका-अवरोध बहुत बड़ा लगता है; लगता ही नहीं, होता भी है; बेशक कई बार जो लगता है, वास्तव में वह होता नहीं है। शुरुआत में यदि अखबार में एक-दो पंक्ति की सकारात्मक खबर या तस्वीर छप जाए, छोटा-सा कोई पत्र-लेख प्रकाशित हो जाए तो खुशी का ठिकाना नहीं रहता। इसी प्रकार हर लेखक की पहली पुस्तक उसे लेखक बना देती है, अतः पहली का महत्त्व जगजाहिर है। इसको 'लव एट फर्स्ट साइट' भी कर सकते हैं। जो हिन्दी का 'क', अंग्रेजी का 'ए' तथा गणित का 'एक' नहीं लिख-जान सकता, वह इन भाषाओं के आगे के वर्णों-अंकों तक पहुँच ही नहीं सकता। यह बिल्कुल संभव है कि शुरुआत करके आगे न बढ़ा जाए। अस्तु, 2001 ई. में पीएच.डी की मौखिकी के तुरंत बाद अपने शोध-प्रबंध को प्रकाशित कराने का मानस तैयार होते देर न लगी, किंतु इस कार्य को करने की ओर सर्वप्रथम दिल्ली विश्वविद्यालय के एक शिक्षक महोदय, जिनके निरंतर संपर्क में था, उन्होंने कई लाभ बताते हुए ध्यान दिलाया। पहली बार कुछ छपने-छपवाने की इच्छा जागृत हो गई। जल्दी ही विश्वविद्यालय से प्रकाशन की अनुमति मिल गई। शोध-प्रबंध का प्राकाश्य भाग 'समकालीन महिला लेखन' पर केन्द्रित था, अतः किसी महिला साहित्यकार से भूमिका लिखवाने का विचार प्रासंगिक लगा। किसी कारण सहजता से उपलब्ध चित्रा मुद्गल जी को प्राकाश्य पुस्तक की संशोधित, टंकित प्रति भूमिका लिखने के लिए दे दी। इसे पढ़ने के क्रम में उन्हें लगा कि कुछ हिस्सों को किसी जानकार-अनुभवी व्यक्ति से लिखवाया गया है। उन्होंने आत्मीयता से कहा भी कि 'आपने ही लिखा है या किसी से लिखवाया है?' इस पर हँसते हुए उत्तर देना पड़ा -'अभी मेरी स्थिति दूसरों के लिए लिखने की है, लिखवाने की नहीं। इतना बड़ा नहीं कि कोई, वह भी विद्वान मेरी सहायता में लिख दे। आखिर कोई क्यों मेरी सहायता में लिखेगा?' मेरी बातों पर पूरा विश्वास उनके चेहरे से छलका और वे ठठाकर हँसने लगीं। फिर उन्होंने एक-दो महिला-पुरुष साहित्यकारों का जिक्र करते हुए बताया कि नए छात्रों-शोधकर्मियों से लिखवाकर अपने नाम छपवाने की रीति- परंपरा हिन्दी में काफी व्यवहृत है। कुछ नामी लेखक दूसरों के परिश्रम का शोषण करके शोषण के विरुद्ध किताबी आवाज उठाकर नाम कमाते हैं। चित्रा जी ने भूमिका लिखी और वह छपी भी, जिसके लिए किसी समीक्षक ने 'राष्ट्रीय सहारा' में उनकी तीखी आलोचना भी की थी।

भले ही अपना मन-संस्कार दूसरों के कार्य पर अपना बैनर टाँगने का न रहा हो, पर जिंदगी के सफर में ऐसे कई महानुभाव मिलते हैं, जिनके मिलने का एकसूत्री कार्यक्रम दूसरों से अपने बारे में, अपने लिए लिखवाने-छपवाने पर टिका रहता है। ये कोई नए प्रकाशनोत्सुक लोग नहीं होते, बल्कि पुराने छपे-छपाए, लेखक-विद्वान कहलाने वाले प्राणी होते हैं, जिनकी छपास की भूख हर छपाई के बाद तीव्र से तीव्रतर होती जाती है; आसक्ति बढ़ती है, घटती नहीं है। लेकिन इसका फायदा भी है कि इन्होंने प्रकाशित सामग्री का अंबार लगा दिया है। अभी तक दूसरों से अपने लिए या अपने बारे में प्रत्यनपूर्वक लिखवाकर छपवाने का मानस-मन नहीं बना है। दूसरों के लिए लिखकर उन्हीं के नाम छपवाने का अवसर भी दाल में नमक के बराबर ही आया है। यदि कुछ लिखना-पढ़ना आता है तो इतना भर करना ही चाहिए। फिर भी न शोषण करना चाहिए और न शोषित होना चाहिए।

किसी अन्य को सब्जबाग में रखकर अपना मतलब साधने के फिराक में रहने वालों के बारे में कोई क्या लिख सकता है और क्या लिखना शेष रह जाता है? जिसका आचरण व व्यवहार क्षुद्रता से सराबोर हो, उसके लेखन में उदात्तता का संधान क्यों करना चाहिए? अपने नाटकीय-दिखावटी व्यवहार से दूसरों को झाँसे में रखने वाले खुद उसी झाँसे के आजीवन शिकार रहते हैं। सामने से किसी कार्य की ओर प्रवृत्त कराकर पीठ पीछे विफलता की कोशिश में लगे रहना इनके अपनत्व की सीमा में आता है - 'आगे कह मृदु वचन बनाई, पीछे अनहित मन कुटलाई।' कई बार इसी कारण कार्य में असमय व अनचाही अनिच्छा-अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है। जब आदमी-आदमी के बीच ऐसी कुत्सा, कपट, कुटिलता व घात-प्रतिघात की परत का विशालकाय सेतु बन जाता है, तब भेदना कठिन होता है। वैसे तो छल-छद्म, मायाजाल के पैर अधिक नहीं टिकते, अतः इनका साम्राज्य कुछएक प्रहार से खत्म हो जाना चाहिए, लेकिन सर्वत्र व्याप्ति एवं बीज-प्रस्फुटन की अपार क्षमता के कारण इनकी सल्तनत बनी हुई है; संभवतः इसमें अभिशाप के भी तत्त्व शामिल हों, जो सामान्यतः बल-विवेक से नष्ट-भ्रष्ट नहीं होते। महाभारत युद्ध में शापवश रथ का पहिया फँस जाने पर कर्ण द्वारा निकाले जाने की हर कोशिश में वह अधिक धँसता गया। 'रश्मि रथी' में इसका सटीक चित्र उकेरा गया है -

मही डोली, सलिल आगार डोला
भुजा के जोर से संसार डोला।
न डोला, किंतु जो चक्का फँसा था
धँसा वह और नीचे जा रहा था।।